

प्रारंभिक स्तर पर कला-शिक्षण

□ राजाराम भादू

प्रारंभिक कक्षाओं से ही कला-शिक्षण की शुरुआत को लेकर किसी की असहमति नहीं है। बल्कि शुरू से ही कला-शिक्षा प्रदान करने का महत्व भी प्रतिपादित किया जाता है। लेकिन प्राथमिक स्कूलों में कला-शिक्षण की स्थिति का आकलन करें तो घोर असंतोषजनक स्थिति मिलती है। प्रचलित पाठ्यक्रम की प्राथमिकताओं में कलाओं की शिक्षा कहीं नहीं है। सामान्यतः सप्ताह में एकाध कालांश कला के लिए निर्धारित होता है। यह भी अक्सर चित्रकला का होता है जिसमें बच्चे फूल-पत्ती, झंडा और अधिक हुआ तो ताजमहल बना कर शिक्षक को संतुष्ट कर देते हैं।

आखिर विद्यालयों में कला को लेकर ऐसा द्वैत क्यों है : एक ओर तो कला-शिक्षण की गंभीर उपादेयता का सहज स्वीकार और दूसरी तरफ इसकी घोर उपेक्षा। क्या यहां भी सामाजिक स्थिति ही प्रतिबिम्बित नहीं हो रही ? हम देखते हैं कि समाज, विशेषकर हिन्दी प्रदेशों का समाज कला-विधाओं का महिमा गान करता रहता है। जबकि व्यावहारिक जीवन में कला को शायद ही कभी अहमियत दी जाती है। इस समाज में लेखक, गायक, नर्तक या चित्रकार को किंचित सम्मान भाव से तो देखा जाता है किन्तु उसके कृतित्व के प्रति शायद ही उत्सुकता अथवा दिलचस्पी दिखायी देती है।

वास्तव में सदियों से कलाएं अभिजात्य वर्ग के शौक अथवा विलासिता की वस्तु होकर रह गयी हैं। कलाओं के रसिक होने का विशेषाधिकार राजा-महाराजाओं से प्रभुवर्ग और फिर मौजूदा अभिजात्य वर्ग को विरासत में मिलता रहा है। कलाओं का अच्छा-बुरा होना भी इनके 'मूड' पर निर्भर रहा है। इसलिए सामान्यजन के लिए कला आस्वादन गूढ़ और रहस्यमय रहा है। इस प्रक्रिया में कलाएं सौंदर्य की अभिव्यक्ति अथवा सौंदर्य बोध के परिष्करण का माध्यम उतनी नहीं रहीं, जितना अलंकरण, प्रदर्शन या आनंद की विषयवस्तु रही हैं। चूंकि अभिजात्य वर्ग का सांस्कृतिक वर्चस्व समूचे समाज पर हावी रहा है, इसलिए सामान्य जन कला की महत्ता तो स्वीकारता है लेकिन इसे उस तरह अपनाता नहीं है। सामान्यजन की कलाओं-अर्थात् लोक कलाओं के प्रति एक जमाने तक अभिजनों का रवैया नकारात्मक था। वे इन्हें हेय दृष्टि से देखते थे। लेकिन इधर वे इनके संरक्षक होकर उभरे हैं। जबकि लोक-समुदाय स्वयं मौजूदा वक्त के सख्त दबावों के चलते इनसे मुंह मोड़ते जा रहे हैं। कुल मिलाकर ऐसा लगता है कि सभी उत्कृष्ट कला-रूप जैसे अभिजात्य वर्ग को संबोधित हैं। सामान्यजन का इनसे पूर्ण अलगाव नहीं तो एक लम्बी दूरी तो यहां है ही। क्या यह सच नहीं है कि निम्न वर्ग ही नहीं बल्कि मध्यवर्ग का भी कोई अभिभावक यह नहीं चाहता कि उसका बालक या बालिका गायक, नर्तक अथवा चित्रकार बने। हां, यदि कुछ समय बतौर शौक वह कुछ तुकबंदी कर ले, चित्र बना ले, गुनगुना ले, उछल-कूद कर ले तो इससे अभिभावकों को खास आपत्ति नहीं है।

इसका मतलब साफ है कि कला-विधाओं के सार्वजनीकरण का काम अभी सम्पन्न नहीं हुआ। यह एक समृद्ध जनतांत्रिक संस्कृति की निर्मिति का प्रश्न भी है और यह कार्य कला-शिक्षण के सार्वजनीकरण के बिना संपन्न नहीं हो सकता। किसी को लग सकता है कि यह बहुत आगे की बहस है क्योंकि जहां शिक्षा का सार्वजनीकरण संभव नहीं हो पा रहा तो कला-शिक्षण पर

जोर क्यों ? किन्तु आज जब साक्षरता को भी सशक्तिकरण का माध्यम माना जा रहा है तो शिक्षा के किसी एकांगी उपक्रम को समर्थन कैसे दिया जा सकता है ?

इसका मतलब यह भी नहीं कि कला-शिक्षण का कार्य चुनौती भरा नहीं है । बेशक इस क्षेत्र में चुनौतियां हैं और वे कहीं ज्यादा जटिल और गंभीर हैं । एक तो, जिसकी हमने पूर्व में चर्चा की, अभिभावकों की कला-शिक्षा के प्रति उदासीनता को तोड़ने का प्रश्न है । दूसरे, विभिन्न कला-विधाओं के सुसंगत शिक्षाक्रमों और पाठ्य वस्तुओं का अभाव है । तीसरे, शिक्षकों की तैयारी का सवाल है । कलाओं की तरह कला-शिक्षण की प्रकृति भी खासी भिन्न होती है जो शिक्षकों से अतिरिक्त धैर्य, संवेदनशीलता और सौंदर्यबोध की मांग करती है ।

हम देखते हैं कि शिक्षा के क्षेत्र में जो अहम नवाचार और अभिनव प्रयोग हुए हैं, उन्होंने शिक्षण-प्रक्रिया की परिधि में कलाओं को महत्वपूर्ण स्थान तो दिया है लेकिन कला शिक्षण के व्यवस्थित शिक्षाक्रम या ठोस कार्यक्रम निर्मित करने की दिशा में ये बहुत दूर तक नहीं गये हैं । ये प्रक्रियाएं सामान्यतः शिक्षक की रुचि और बच्चों के उत्साह एवं उनकी सहज उद्भावनाओं पर अधिक निर्भर रही हैं । कुल मिलाकर यह स्वतः स्फूर्त कला-शिक्षण है ।

प्रारंभिक स्तर पर कला-शिक्षण को लेकर एक साफ समझ बनाना शायद तब तक संभव नहीं है जब तक कि भाषा, गणित और विज्ञान जैसे विषय-शिक्षण से हम इसका संबंध नहीं जान लेते । बहुधा यह समझ पायी जाती है कि यदि कला-शिक्षण पर अतिरिक्त जोर दिया गया तो हमारा उपरोक्त विषय-शिक्षण पिछड़ जायेगा । यह सही है कि भाषा, गणित और विज्ञान जैसे संज्ञानात्मक क्षेत्र हैं, इनकी तुलना में कला-विधाएं संवेगात्मक क्षेत्र हैं । लेकिन इनमें कोई ऐसा पारस्परिक विरोध नहीं है कि एक दूसरे की सीखने की प्रक्रिया को बाधित करें । समझ तो दोनों में समान रूप से बनती है । बल्कि यह संभावना कहीं ज्यादा है कि इससे सीखने की प्रक्रिया अधिक जीवंत, आनंददायी और गतिशील बने ।

जब हम शिक्षा का ध्येय बच्चे का सर्वांगीण विकास निर्धारित करते हैं और सीखने की तमाम प्रक्रियाओं से चाहते हैं कि इनसे बच्चे की अन्तर्निहित क्षमताएं और संभावनाएं अधिकाधिक विकसित हों तो कला-शिक्षण एक अनिवार्य कार्यवाही है । बच्चे की अभिव्यक्ति क्षमता का ही मसला लें । यह सही है कि भाषिक अभिव्यक्ति प्रधान है लेकिन भाषा से इतर अभिव्यक्तियां भाव भंगिमा (नृत्य-नाटक) और आकृतिमूलक अभिव्यक्तियां (पेंटिंग) क्या नकारी जा सकती हैं ? और क्या इनसे भाषा की धुरी और प्रखर व तेजमय नहीं बनती ? चेतना और संवेदना का विकास स्वाभाविक रूप से साथ-साथ चलता है ।

यदि हम ऐसे समाज की कल्पना करते हैं जो एक जीवंत और समृद्ध संस्कृति से परिचालित है । जिसमें सृजनात्मकता और कल्पनाशीलता के लिए सम्मानजनक स्थान है, संवेदनशीलता, करुणा और लालित्य जिसकी मूल्य-संरचना में समाहित है तो कलाओं के प्रति हमें अपना रुख बदलना पड़ेगा । कलाओं के प्रति हमारा रुख हमारी जीवन-पद्धति और सौंदर्य-दृष्टि को द्योतित करता है ।

प्राथमिक शिक्षा नींव हैं और वहीं से चीजें शुरू हों, इसे अशिक्षित बुजुर्ग भी स्वीकार करते हैं । लेकिन शिक्षित तबका ये प्रश्न उठाता है, हम जानेंगे कैसे, कि आपका कला-शिक्षण ठीक-ठाक चल रहा है । यह सही है कि कला विधाओं का मूल्यांकन अंकों के आधार पर उपयुक्त और न्यायसंगत नहीं होगा । किन्तु यह कोई अमूर्त प्रक्रिया भी नहीं हो सकती । अतः इसके प्रतिफलों को स्कूल में ऐसे नजर आना चाहिए जैसे बसन्त में कोई बगीचा नजर आता है । शिक्षकों को इस बागवानी में निष्णात होना पड़ेगा, निसंदेह यह एक कठिन चुनौती है । ♦